देवराज सम्प्रदाय की अवधारणा और दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास में इसका महत्व

Mandip Kumar Chaurasiya

Assistant professor

Dept. Of A.I.H. & Archaeology

Patna, University,Patna-800005

M.A.-II Semester

Paper/CC – (6) Political History Of South-East Asia

देवराज सम्प्रदाय :- भारत के पौराणिक हिन्दू धर्म मे कंबुज देश में एक नये सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसे देवराज या जगत-ता-राजा कहते थे। कई सदियों तक यह कंबुज देश का राज धर्म रहा। इसका प्रारंभ नौवीं सदी में हुआ था, जबकि राजा जयवर्मा द्वितीय कंबुज के राजसिंहासन पर विराजमान थे। कंबुज के अभिलेखों में स्दोक काक थोम अभिलेख अत्यंत महत्व का है। उसमें राजपुरोहित के एक ऐसे परिवार का विशद रूप से वृत्तांत दिया गया है, जिसका देवराज सम्प्रदाय के साथ घनिष्ठ संबंध था। यह परिवार पहले इंद्रपुर विषय (जिले) के भद्रयोगी नामक गाँव मे निवास करता था। जब परमभट्टारक परमेश्वर (जयवर्मा द्वितीय) शासन करने के लिए जावा से इंद्रपुर आये, तो उन्होंने इस पुरोहित-परिवार के श्रीमान गुरु

शिवकैवल्य को अपना राजपुरोहित नियुक्त कर दिया। फिर परमभट्टारक ने इंद्रपुर छोड़ दिया, और वे पूर्वादिश विषय चले आये। उनकी आज्ञा से शिवकैवल्य भी अपने संबंधियों के साथ वहीं आ गये। परमभट्टारक ने वहाँ उन्हें भूमि प्रदान की, कुटी नामक एक गाँव बसा कर वह भी उन्हें दे दिया। फिर परमभट्टारक ने अमरेंद्रपुर नगरी बसायी और शिवकैवल्य भी उनकी सेवा में उसी नगरी में चले आये शिवकैवल्य ने वहाँ राजा के एक भूखण्ड माँगा और वहाँ भवालय नामक एक गाँव बसाया। अपने परिवार व सब-सम्बन्धी को उन्होंने भवालय बुला लिया। उनके आदेश से गंगाधर नामक ब्रह्मण ने भवालय में एक शिवलिंग की भी स्थापना की। परमभट्टारक अमरेंद्रपुर से महेंद्रपर्वत गये, और शिवकैवल्य भी उनके साथ वहीं चले गये।

जब परमभट्टारक जयवर्मा महेंद्रपर्वत में निवास कर रहे थे, हिरण्यदामा नामक ब्राह्मण जनपद (सम्भवतः, भारत) से वहाँ आया। वह तंत्र-मंत्र विधा में पारांगत था। राजा ने उसे ऐसा विधान (पुरश्चरण) तैयार करने के लिए निमंत्रित किया था, जिससे कंबुज देश जावा के अधीन न रहे और वहाँ का राजा अपने राज्य में चक्रवर्ती बनकर रहे। हिरण्यदामा ब्र: विनाशिख तंत्र के अनुसार विधि बनाई, और जगत-ता-राज (देवराज) को प्रतिष्ठापित किया। उसने व्र: विनाशिख, न्योत्तर, सम्मोह और शिरच्छेद की शिक्षा दी, और उन्हें आदि से अंत तक बोलकर लिखवा दिया। हिरण्यदामा ने शिवकैवल्य को भी सीखा दिया, की देवराज की पूजा का अनुष्ठान कैसे किया जाए। राजा जयवर्मा (द्वितीय) तथा ब्राह्मण हिरण्यदामा ने तब यह शपथ ली, कि जगत-ता-राज विधि का अनुष्ठान करने के लिए केवल शिवकैवल्य के परिवार को ही काम में लाया जाएगा, किसी अन्य को नही। शिवकैवल्य ने यह विधि अपने सब संबंधियों को सिखायी। इसके बाद राजा हरिहरालय लौट गए और जगत-ता- राज को भी वहीं ले जाया गया। शिवकैवल्य और राजा (जयवर्मा द्वितीय) की मृत्यु हरिहरालय में ही हुई। जयवर्मा द्वितीय के उत्तराधिकारी परमभट्टारक बिष्णुलोक (जयवर्मा तृतीय) के शासनकाल में भी जगत-ता-राज हरिहरालय में प्रतिष्ठापित रहे। शिवकैवल्य के बाद कोई ढाई सौ साल तक उनके वंशज एवं सम्बन्धी कंबुज राजाओं के राजपुरोहित रहे, और हिरण्यदामा द्वारा प्रतिपादित विधि का अनुष्ठान कर देवराज या जगत-ता-राज की पूजा करने में तत्पर रहे। ये देवराज भगवान कंबुज देश के संरक्षक माने जाते थे, और वहाँ जे राजा इन्हें रक्षक देवता मानकर इनकी पूजा कराया करते थे। जयवर्मा द्वितीय के उत्तराधिकारियों द्वारा जो अनेक राजधानियाँ बसायी गई, उन सब में इस देवता को प्रतिष्ठापित किया गया और उसकी पूजा अबाध रूप से जारी रही।

देवराज (जगत-ता-राज) का क्या स्वरूप था और उसकी पूजा विधि क्या थी, यह स्पष्ट नही है। यह माना जाता है कि देवराज की प्रतिमा लिंग या शिवलिंग के रूप में बनायी जाती थी, और उसे ऐसे मंदिर में प्रतिष्ठापित किया जाता था जो किसी ऊंचे स्थान (पहाड़ी के शिखर या कृत्रिम रूप से निर्मित अत्यंत ऊँचे मूलाधार) पर विधमान हो। शिव को कैलाश का निवास माना गया है, जो हिमालय के इस उच्च शिखर पर रहते हुए जगत का पालन करते हैं। जगत-ता-राज भी (लिंग के रूप में) एक ऊंचे स्थान पर (जो कैलाश का प्रतीक होता है) प्रतिष्ठित होकर कंबुज राज्य की रक्षा किया करते थे। देवराज (जो शिव का ही एक रूप था) की पूजा के लिए जिस विधि का प्रतिपादन ब्राह्मण हिरण्यदामा द्वारा किया गया था, वह तंत्रशास्त्र पर आधारित थी। जिन चार शास्त्रो की शिक्षा हिरण्यदामा द्वारा शिवकैवल्य को दी गई थी, वे शैव आगमों के अंतर्गत थे। इसमे न्योत्तर सबसे पुराना था, और प्राचीन शैव आगम का अंगीभूत था। अन्य तीनो शास्त्रों की रचना बाद के काल मे हुई थी। यधपि उन्हें भी शैव आगम में सम्मिलित कर लिया गया था। सातवीं और आठवीं सदियों में भी इन चारों शैवशास्त्रों का अध्ययन हुआ करता था, और इन्हें शैव आगम के प्रमाणिक ग्रंथ माने जाते थे। ब्रह्मण हिरण्यदामा ने इन्हीं की शिक्षा शिवकैवल्य को प्रदान की थी, और इस प्रकार उसने कंबुज देश मे शैव धर्म के ऐसे सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था, जो भारत मे पहले ही प्रचलित था। सातवी सदी तक भारत मे वज्रयान, वाममार्ग आदि ऐसे सम्प्रदायों का विकास हो चूका था, जिनमे की तांत्रिक क्रियाओं का प्रमुख स्थान था। जयवर्मा द्वितीय के समय मे हिरण्यदामा द्वारा देवराज शिव की जिस पूजा विधि का कंबुज देश मे प्रारम्भ किया गया था, वह शैवधर्म के एक तांत्रिक सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित थी। इस विधि में यज्ञयिक अनुष्ठान का भी महत्वपूर्ण स्थान था, जैसा कि राजा राजेंद्रवर्मा के बक्सेई चमकन अभिलेख से सूचित होता है। जयवर्मा द्वितीय के समय में ही देवराज शिव की पूजा का कंबुज देश मे प्रारम्भ हुवा था, और इस राजा ने देवराज के लिंग को अपनी राजधानियों में प्रतिष्ठापित करने में विशेष तत्तपरता प्रदर्शित की थी।

राजा जयवर्मा द्वितीय ने जो यह शपथ ली थी कि राजपुरोहित का पद केवल शिवकैवल्य के परिवार में ही रहे, इसका कारण था। भारत में शिवाचार्य पड़ पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति प्रायः उत्तर भारत के ऐसे ब्राह्मण परिवारों में से ही लिए जाते थे, जोकि शैव आगम में परांगत हो। कंबुज देश मे परिवार अधिक नहीं थे, जो कि शैव शास्त्रों के पंडित हों। भारत से गये ब्राह्मण हिरण्यदामा ने शिवकैवल्य को शैव आगमों में भली भाँति प्रशिक्षित कर दिया था, जिसके कारण राजा जयवर्मा ने यह व्यवस्था की थी, की कंबुज के

राजपुरोहित का पद शिवकैवल्य के परिवार में ही स्थिर रहे। भारत मे चोल राजा राजेंद्र चोल ने तंजौर के राजराजेश्वर मंदिर के पुरोहित के तौर पर शिवाचार्य शिवपंडित को नियुक्त किया था। यह पंडित आर्यदेश (आर्यावर्त या उत्तर भारत) के निवासी थे। राजेंद्र चोल ने आदेश , मध्य देश और गौड़देश से ही लिये जाया करे, अन्यत्र से नही।

देवराज सम्प्रदाय में जहाँ कैलाश पर्वत के प्रतीक के रूप में किसी उच्च स्थान पर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया जाता था, वहाँ साथ ही राजा तथा उसके परिवार के अन्य व्यक्तियों की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। कंबुज देश मे राजा को देव माना जाता था, और देवता के रूप में उसकी पूजा भी कि जाति थी। मृत्यु के अनन्तर राजा को एक ऐसा नाम दे दिया जाता था, जिससे कि सूचित हो कि उसने देवत्व को प्राप्त कर लिया है। मृत्यु के बाद राजा हर्षवर्मा प्रथम को परमरुद्रलोक, जयवर्मा चतुर्थ को परमशिवपाद , हर्षवर्मा द्वितीय को ब्राह्मलोक, सूर्यवर्मा प्रथम को निर्वाणपद, जयवर्मा सप्तम को महापरमसौगत, जयवर्मा द्वितीय को परमेश्वर के नाम प्रदान किये गये थे। इन राजाओं की देवरूपी मूर्तियाँ बनाकर उन्हें भी देवराज (शिव) के लिंग के समीप मंदिर में स्थापित कर दिया जाता था, और उनकी भी पूजा की जाती थी।

देवराज सम्प्रदाय की पूजाविधि के मूल स्रोत भारत ही था और वहाँ के शैव धर्म के एक तांत्रिक मत से ही उसका ग्रहण किया गया था। अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि दिवंगत राजा और उसके पूर्वजों को देवी मानकर देवता के रूप में उनकी मूर्तियाँ स्थापित करने की पद्धति भी भारत से ही ली गई थी।

दिवंगत पूर्वजों की मूर्तियाँ बनाने और उनमें देवत्व का आधान कर पूजा के प्रयोजन से उन्हें मंदिरों में प्रतिष्ठापित करने की प्रथा भारत में भी विधमान थी, इसके कतिपय संकेत मिलते है। भास के प्रतिमा नाटक में दशरथ तथा अन्य पूर्वजों की मूर्तियों को देवमाला के रूप में प्रतिष्ठापि किया गया था, जिनके अवशेष अब भी उपलब्ध हैं। देवराज सम्प्रदाय की पूजाविधि तथा स्वरूप के विषय में अधिक लिख सकना सम्भव नहीं है, क्योकि इस सम्बंध में आवश्यक सामग्री अभी प्रकाश में नहीं आयी है। पर इसमें संदेह नहीं, की तीन सदियों (नौंवी से ग्यारहवीं सदियों) तक यह कंबुज देश का राजधर्म रहा।